International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

विश्वासी एक्का के काव्य में प्रकृति और जनजातीय समाज

डॉ. शिव कुमार दुबे

सहायक प्राध्यापक-हिंदी
शासकीय ग्राम्य भारती महाविद्यालय हरदीबाजार
जिला- कोरबा छत्तीसगढ़
मोबाइल 8103548971
ई मेल shivdubey@gmail.com

प्रस्तावना

प्रकृति और मानव का संबंध चिरकाल से अटूट रहा है। मानव सभ्यता का विकास प्रकृति की गोद में हुआ है। नदियों ने बस्तियों को जन्म दिया, वनों ने आजीविका दी, पर्वतों ने सुरक्षा दी और मिट्टी ने अन्न दिया। इसीलिए प्राचीन काल से ही मानव ने प्रकृति के प्रति केवल उपयोगिता का भाव नहीं रखा, अपितुउसमें दैवीय शक्ति, मातृत्व और संरक्षकता का बोध भी किया। भारतीय साहित्य में प्रकृति-चित्रण की परंपरा अत्यंत समृद्ध रही है। वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, संस्कृत काव्य, भक्ति-काव्य, लोकगीत और आधुनिक हिन्दी कविता—सभी में प्रकृति मानवीय भावनाओं को व्यक्त करने का शक्तिशाली माध्यम रही है।

किंतु आधुनिक युग में मानव और प्रकृति के संबंध में मूलभूत परिवर्तन आया है। औद्योगिक क्रांति, नगरीकरण, वैज्ञानिक प्रगति और उपभोक्तावादी जीवन-शैली ने प्रकृति को 'संसाधन' के रूप में देखना सिखाया। वन केवल लकड़ी और कोयला बन गए, नदियाँ केवल पानी और बिजली का स्रोत, पर्वत खनन के क्षेत्र और भूमि केवल उत्पादन का साधन। इस दृष्टि ने प्रकृति को उसकी जीवंतता से अलग कर दिया। परिणामस्वरूप जलवायु परिवर्तन, बाढ़, सूखा, भूमि-क्षरण, जैव-विविधता का ह्रास और प्राकृतिक आपदाएँ बढ़ी हैं।

जनजातीय समाज के लिए यह संकट अधिक गंभीर है, क्योंकि उसका जीवन प्रकृति पर सीधे आश्रित है। जंगल उसका घर, भोजन और औषधि का स्रोत है; नदी उसकी जीवनरेखा है; भूमि उसकी पहचान और पूर्वजों की स्मृति है। इसीलिए जब विकास के नाम पर वन काटे जाते हैं, भूमि अधिगृहीत होती है या नदियाँ प्रदूषित होती हैं, तो जनजातीय समाज केवल आर्थिक नुकसान नहीं करता, अपितुअपनी सांस्कृतिक जड़ों से भी विमुख हो जाता है।

डॉ. विश्वासी एक्का की कविताएँ इसी सामाजिक और पारिस्थितिक यथार्थ की प्रतिनिधि स्वर है। छत्तीसगढ़ का सरगुजा संभाग, जो प्रकृति की गोद में बसा है, इनकी जन्मभूमि और कर्मभूमि है। इनकी कविताओं में सरगुजा अंचल की नदियाँ, जंगल, पहाड़, खेत, खलिहान, गाँव, लोक-जीवन और जनजातीय

संस्कृति का सजीव चित्रण मिलता है। उनकी कविता में प्रकृति कोई दूर का सौंदर्य नहीं, अपितुदैनिक जीवन का साथी है। इसी कारण उनकी कविताओं में प्रकृति और जनजातीय समाज एक-दूसरे से पृथक नहीं किए जा सकते।

जनजातीय समाज में प्रकृति केवल भौतिक परिवेश नहीं है। वह जीवन का आधार, संस्कृति की जड़ और सामूहिक अस्तित्व की पहचान है।विश्वासी एक्का की कविताओं में यह संबंध अत्यंत आत्मीय रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उनकी कविता में प्रकृति आदिवासी की 'माँ' है, वहीँ वन, पर्वत, नदियाँ और आकाश उसके 'सखा', 'सहेली' और 'हमजोली' हैं। यह उपमा प्रकृति के साथ मानव के रिश्ते को पारिवारिक और सामाजिक बना देती है—

"वो आदिवासी
वो मतवाले
प्रकृति तुम्हारी मां
वन,पर्वत, नदियाँ, आकाश, सखा, सहेली, हमजोली
पेड़ों पर चढ़ मधु निकाल
रस घोलते रिश्तों पर।"[1]

इन पंक्तियों में प्रकृति को माता कहकर कवयित्री ने उसके प्रति श्रद्धा, आश्रय और कृतज्ञता का भाव व्यक्त किया है। वन, पर्वत, नदी और आकाश को संबंध की भाषा में प्रस्तुत करना जनजातीय जीवन-दर्शन की विशेषता है। यहाँ प्रकृति कोई निर्जीव वस्तु नहीं, अपितुजीवंत सहयात्री है, जो जन्म से मृत्यु तक मानव के साथ रहती है।

विश्वासी एक्का की कविता में जनजातीय जीवन का चित्रण केवल प्राकृतिक सौंदर्य तक सीमित नहीं है। उनकी कविता का एक प्रमुख स्वर श्रम और कर्मकौशल है। जनजातीय समाज की अर्थव्यवस्था कठिन श्रम पर आधारित है। खेती, वनोपज संग्रह, पशुपालन, मछली पकड़ना, लकड़ी काटना, चूल्हा जलाना, अनाज पीसना और घरेलू श्रम; ये सभी उसके जीवन के अभिन्न अंग हैं।

"हो कोई बीमारी उपचार धरा था हाथों में
हल,बक्खर, रहँट, गेंडीसूपा, टुकना, मोरा, दउरा, झेलंगी और बहंगी
सौ हुनर तुम्हारे हाथों में।"[2]

ये शब्द केवल वस्तुओं के नाम नहीं हैं; इनमें ग्रामीण जीवन का पूरा अनुभव समाहित है। 'सौ हुनर तुम्हारे हाथों में' के माध्यम से कवयित्री ने जनजातीय समाज की कार्यकुशलता, आत्मनिर्भरता और सृजनशीलता को स्वीकार किया है। वह श्रम करता है, प्रकृति से जुड़ता है और अपनी आवश्यकताओं की

पूर्ति करता है। विश्वासी एक्का की कविता में यह श्रम केवल आर्थिक गतिविधि नहीं, अपितुगरिमा, आत्मसम्मान और सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक है।

विश्वासी एक्का की कविताओं की एक प्रमुख विशेषता उनकी स्थानीय और लोकभाषिक शब्दावली है। पुटू, सिहार, दोना, पत्तल, हल, बक्खर, सूपा, टोकनी, मोरा, दौरा, ढेंकी, बहंगी, खोमरा, पतरी, कठबिलवा, नांगर-बैला, बसुला, ढाँसा और चरौंटा जैसे शब्द उनकी कविता में सहज रूप से आते हैं। ये शब्द छत्तीसगढ़ विशेषकर सरगुजा क्षेत्र के ग्रामीण और जनजातीय जीवन की सांस्कृतिक पहचान बन जाते हैं।यह शब्दावली केवल इनकी भाषागत विशेषता नहीं है। इसके पीछे एक पूरा जीवन-दर्शन है। उनकी कविताओं में गाँव, खेत, खलिहान, नदी, तालाब, वन, पर्वत, वनस्पति और पशु-पक्षी बार-बार उपस्थित होते हैं। ये चित्र केवल दृश्यात्मक नहीं हैं; इनमें ग्रामीण जीवन की गरिमा, संघर्ष और अस्तित्व की चिंता भी है। कवयित्री जानती हैं कि जब गाँव की भाषा, औजार, रीति-रिवाज और जीवन-शैली लुप्त होगी, तब लोकसंस्कृति भी विघटित होगी।इस प्रकार एक्का की भाषा जनजातीय जीवन को संरक्षित रखने का माध्यम बन जाती है।

विश्वासी एक्का ने अपनी कविताओं में प्रकृति-सौंदर्य और जनजातीय जीवन-सौंदर्य का सुंदर समन्वय किया है। उनकी कविता में आदिवासी समाज के वेशभूषा, आभूषण, नृत्य, संगीत और सामूहिक उल्लास का जीवंत चित्रण मिलता है—

"कानों में तरकी, हाथों में बेरा गले में हसुली,
माथे पर टिकुली पैरों में घुँघरू,
कैसा समन्वय स्त्री और पुरुष का
अर्धनारीश्वर की कल्पना
हाथों में डंडा ले घूम-घूम
लहकती कमर नृत्य करतेगाँव के रसिया नचकार।"[3]

इनकी रचनाओं में जनजातीय जीवन का उत्सव, नृत्य और सामूहिक आनंद चित्रित है। तरकी, बेरा, हँसुली, टिकुली और घुँघरू जैसे आभूषण जनजातीय संस्कृति की पहचान हैं। स्त्री और पुरुष के समन्वय को 'अर्द्धनारीश्वर' की कल्पना से जोड़ना काव्यात्मक रूप से अर्थपूर्ण है। इससे लिंग-संतुलन, सहअस्तित्व और सामूहिक जीवन का भाव उभरता है।इसके पीछे एक वास्तविक सामाजिक जीवन है, जहाँ श्रम, गीत, नृत्य और संघर्ष साथ-साथ चलते हैं। जनजातीय समाज में उत्सव केवल मनोरंजन नहीं है; यह सामूहिक एकता, पीढ़ी-संचार और सांस्कृतिक निरंतरता का माध्यम है। विश्वासी एक्का की कविता इसी जीवंत लोक-संस्कृति को कागज पर सुरक्षित और संवर्धित करने का प्रयास करती है।

विश्वासी एक्का की कविता का सबसे प्रबल पक्ष पर्यावरणीय चिंता है। वे प्रकृति को केवल निहारती नहीं, अपितुउसके विनाश से आहत होती हैं। उनकी दृष्टि में प्रकृति के अंधाधुंध दोहन ने मनुष्य को प्रकृति का शत्रु बना दिया है। इसका परिणाम प्राकृतिक आपदाओं के रूप में सामने आ रहा है। 'जंगल-जंगल' कविता में कवयित्री ने वन-विनाश के परिणाम को चेतावनी के रूप में प्रस्तुत किया है—

"अगर तुमने जंगल छीना, दहक उठेगा बसंत
बौरा जाएँगी अमराइयाँ,बेसुरी हो जाएँगी कोयल
कैरी के बदले लद जाएँगे बारूद
तुम्हारे छूने मात्र से हो जाएगा विस्फोट
तुम्हारे हाथ कुछ नहीं आएगा
न जली लकड़ियों की राखऔर न ही कोयला।"[4]

यहाँ जंगल को छीनने का अर्थ केवल वृक्षों की कटाई नहीं है। इसका अर्थ है जीवन, ऋतु, संगीत, प्रजनन और सामाजिक संतुलन का विनाश। जब जंगल जाएगा, तो बसंत दहकेगा, अमराइयाँ बौरा जाएँगी और कोयल की आवाज बेसुरी हो जाएगी। 'कैरी के बदले बारूद' का बिंब विकास के नाम पर हिंसा और संघर्ष की ओर संकेत करता है।यह पंक्ति उपभोक्तावादी मानसिकता पर गहरा प्रहार कतरे हुए हमें चेतावनी देती है कि प्रकृति का विनाश अंततः मानवीय सभ्यता का विनाश है।

जनजातीय विमर्श में 'जल, जंगल और जमीन' का विशेष महत्व है। ये तीनों तत्व केवल आर्थिक संसाधन नहीं हैं; ये जनजातीय समाज की आजीविका, अस्मिता और सांस्कृतिक अधिकार के आधार हैं। उनकी कविता स्पष्ट कहती है कि प्रकृति रहेगी तो ही मनुष्य रहेगा। इसीलिए वे जनमानस को जंगल, नदी, पहाड़ और मिट्टी बचाने के लिए जागरूक करती हैं—

"अब भी समझ ले दुनिया
इतना विकास पर्याप्त है जीने के लिए
जंगल को बचा ले जैव-विविधता के लिए
नदियों को बचा ले निर्मलता के लिए
पहाड़ों को बचा ले अपने टिके रहने के लिए
तो मिट्टी को बचा ले नई पौध सिरजने के लिए
और यह भी समझ ले
अभी नहीं तो फिर कभी नहीं, कभी नहीं।"[5]

ये पंक्तियाँ एक स्पष्ट पर्यावरणीय घोषणा-पत्र हैं। कवयित्री ने विकास को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया, अपितुउसकी सीमा पर प्रश्न उठाया है। उनके अनुसार जीने के लिए इतना विकास पर्याप्त है;

उसके नाम पर प्रकृति का सर्वनाश उचित नहीं है।जंगल बचाने का संबंध जैव-विविधता से है, नदी बचाने का निर्मलता से, पहाड़ बचाने का मानव के टिके रहने से और मिट्टी बचाने का नई पौध के सिरजन से है। इस प्रकार कविता में प्रकृति के प्रत्येक उपादान को जीवन की अत्यावश्यक उपबंध के रूप में देखा गया है। 'अभी नहीं तो फिर कभी नहीं' का कथन चेतावनी और आग्रह दोनों रूप में अभिव्यक्त किया गया है ।

विश्वासी एक्का की कविता में जंगल केवल प्रकृति नहीं, अपितुजनजातीय समाज का ऐतिहासिक अधिकार भी है। जंगल में सदियों से बसे पूर्वजों ने आदिवासी समुदाय को उसका स्वामित्व सिखाया है। कविता में सीपियों और समुद्र के संबंध के माध्यम से जनजातीय समाज और जंगल के संबंध को स्पष्ट किया गया है–

"सीपियों को पता है, समंदर उनका है
गर्भ में पल रहे मोती उनके हैं, तुम्हें भी तो यही पता था
कि जंगल तुम्हारा था, जंगल में सदियों से बसे पुरखों ने
तुम्हें यही तो बताया था।
हमारे पुरखा कवि ने भी यही लिखा–
बाघ वाले शेर वाले,सात-सात पहाड़ वाले
अजगरों से भरे जंगल, कष्टों से सने जंगल
इन वनों के खूब भीतर, चार मुर्गे चार तीतर
पालकर निश्चिंत बैठे, गोंड तगड़े और काले
तुम सोच सकते हो, तुम्हें जंगल का दुश्मन बताया जा रहा है।"[6]

यह कविता जनजातीय अस्मिता की प्रतिवादी आवाज है। जंगल को आदिवासी का दुश्मन बताना, वस्तुतः उसके ऐतिहासिक अधिकार को अस्वीकार करना है। कवयित्री बताती हैं कि जंगल आदिवासी का घर, आजीविका और पूर्वजों की विरासत है। उसे विनाशकारी या असभ्य नहीं, अपितुप्रकृति के साथ संतुलित जीवन जीने वाला समुदाय माना जाना चाहिए।

यहाँ 'पुरखा कवि' का उल्लेख लोक-परंपरा और जनजातीय स्मृति से संबंध दर्शाता है। जनजातीय समाज अपने इतिहास को केवल लिखित दस्तावेजों में नहीं, अपितुगीत, कथा, लोकोक्ति और सामूहिक स्मृति में सुरक्षित रखता है। विश्वासी एक्का की कविता इसी मौखिक परंपरा को आधुनिक काव्य-भाषा में पुनर्जीवित करती है।

विश्वासी एक्का की कविताओं में ऋतु-चक्र और ग्रामीण जीवन का सुंदर समन्वय है। आषाढ़-सावन में पुटू उठाना, सिहार के फलों का चटकना, गिलहरी, बंदर और खरगोश का आनंद तथा पूरे गाँव का उल्लास—ये सब मिलकर एक जीवंत ग्रामीण दृश्य रचते हैं—

"सिहार के फल चटकते थे,भुना बीज पाकर
खुश होती गिलहरी, बंदर, खरगोश...
पुटू उठा जरहन में बहुएं,उठा लाती मोरा भर
आषाढ़ सावन, जैसे पुटू का मौसम
खुश होता पूरा गाँव।"[7]

यहाँ प्रकृति और मानव जीवन के बीच कोई विरोध नहीं है। पशु-पक्षी और मानव एक ही पारिस्थितिक जीवन में अपना आनंद पाते हैं। 'पुटू' जैसे शब्द में खेती, मेहनत, परिवार, ऋतु और सामूहिक जीवन की अनुभूति है। 'ढेंकी' में अनाज की अर्थव्यवस्था, स्त्री-श्रम और ग्रामीण जीवन की लय है। 'दोना-पत्तल' में प्रकृति-मित्रता और पर्यावरण के अनुकूल जीवन का बोध है।

इसी प्रकार महुआ के फूलों और सूखे खेत के चित्रण में कवयित्री की संवेदनशील दृष्टि दिखाई देती है—

"झरते रहे सपने दुखना के रातभर, ओस से भीगे
टपक रहे हैं महुआ के, रस से भरे फूल
सूखे खेत में टप-टप।"[8]

यहाँ महुआ के रस से भरे फूलों का सूखे खेत में गिरना एक विरोधाभासी बिंब है। एक ओर प्रकृति की उदारता है, दूसरी ओर कृषि-संकट की व्यथा। इससे जनजातीय और कृषक जीवन की नाजुकता प्रकट होती है।

विश्वासी एक्का की कविता में प्रकृति का संगीतमय रूप भी चित्रित है। बाँसुरी की स्वर-लहरी, लहरों की तान, नदी का किनारा और जंगल की जमीन—ये सब मिलकर मानव-मन को रोमांचित करते हैं—

"सुहाती थी आँख मिचौली, बाँसुरी की स्वर लहरी
लहरों की तान, सुरीला संगम, नदी का किनारा
जंगल की जमीन..., रोमांच से भर जाते दोनों।"[9]

यहाँ प्रकृति केवल दृश्य नहीं, ध्वनि और अनुभूति भी है। नदी, जंगल और बाँसुरी का संगीत मानव को जीवंत बनाता है। कवयित्री की दृष्टि में प्रकृति के बिना मानवता अपनी जीवंतता प्राप्त नहीं कर सकती।प्रकृति के प्रति यह आत्मीयता उनके काव्य की आधारभूत संवेदना है। पहाड़, झरना, जंगल

और नदी मनुष्य को गतिशील और चेतन बनाते हैं। वे केवल बाहरी परिवेश नहीं, अपितुआंतरिक जीवन के प्रेरक हैं।

विश्वासी एक्का को आत्मचेतना और श्रम-संस्कृति की कवयित्री कहा जा सकता है। उनकी कविताओं में जनजातीय जीवन श्रम, आत्मविश्वास और कर्म-कौशल से परिपूर्ण है। जनजातीय समाज अपने श्रम से विषम परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है।उनकी कविता में पक्षियों का कलरव, भँवरों का गुँजार, कलियों का खिलना, ओस की बूँदों का गिरना और बीज का अंकुरित होना, ये सब जीवन की निरंतरता के चिह्न हैं—

"पक्षियों का कलरव, भँवरों का गुँजार
कलियों का खिलना, पत्तों से ओस की बूँदों का
धीरे से ढलक जाना जमीन पर,बीज अंकुरण का कारण बनेगा
फसल होगी भरपूर, विकसित होंगे कमल
उड़ेगा पराग दसों दिशाओं में।"[10]

यह कविता प्रकृति की सृजन-प्रक्रिया को दर्शाती है। ओस, बीज, अंकुरण, फसल और पराग—ये सब एक निरंतर जीवन-चक्र के अंग हैं। कवयित्री को प्रकृति की निरंतरता पर अटूट विश्वास है। उनकी दृष्टि में मनुष्य और प्रकृति एक-दूसरे के पूरक हैं।

विश्वासी एक्का के काव्य में स्त्री और प्रकृति का संबंध विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। उनकी दृष्टि में स्त्री में जन्म देने, पालन-पोषण करने और जीवन को संवर्धित करने की शक्ति है। यही शक्ति नदी में भी दिखाई देती है। इसीलिए उन्होंने स्त्री को नदी के रूप में चित्रित किया है—

"तुम्हारे भीतर एक ढोढ़ी है,तुम्हें जन्मना ही होगी एक नदी
ऐसी नदी,जो स्नेह के पानी से भरी हो
जो कभी सूखे नहीं,जिसमें खुशियों की
रंग-बिरंगी मछलियाँ हों, वह नदी जो जीवन को सींचे
हरा-भरा करे,जिसमें बाढ़ न आए कभी
बहे सदा अपनी सीमा में अविराम।"[11]

यहाँ नदी केवल जल का प्रवाह नहीं है; वह स्नेह, जीवन, संतुलन और निरंतरता का प्रतीक है। स्त्री के भीतर नदी की कल्पना करके कवयित्री ने स्त्री की सृजनशीलता और जीवनदायिनी शक्ति को उजागर किया है।

यह चित्रण आधुनिक नारीवाद से भिन्न है। यहाँ स्त्री केवल अधिकार या मुक्ति की वक्ता नहीं है; वह श्रम, सृजन, संघर्ष और समष्टि के हित की संवाहक है। वंदना टेटे ने भी 'लक्ष्मनिया का चुल्हा' के

संदर्भ में कहा है कि इसमें स्त्री आदिवासी मातृपरंपरा के अनुरूप श्रम करती, गीत गाती और संघर्ष करती है। वह केवल अपने लिए नहीं, समस्त मानव समुदाय और सृष्टि के पक्ष में 'चूल्हा जलाती' तथा 'ढेंकी कूटती' है।

विश्वासी एक्का की कविता में आधुनिक कृषि-पद्धति पर भी गहरी चिंता है। वर्तमान में खेती व्यवसाय बन चुकी है। अधिक उपज के लोभ में भूमि की उर्वरता को निचोड़ा जा रहा है। रासायनिक खाद, कीटनाशक और बाजार-निर्देशित उत्पादन ने पर्यावरण के साथ-साथ मानवीय स्वाद, स्वास्थ्य और सामाजिक भरोसे को भी प्रभावित किया है। इस परिवर्तन को व्यंजित करती हुए यह लिखती हैं—

"लोगों में आपसी भरोसा था
आबोहवा भी कितनी साफ थी
भात का स्वाद कितना तृप्त करता था
तरकारियों का जायका कितना अच्छा होता था
अब तो आलू में भी वह स्वाद नहीं आता।"[12]

यहाँ स्वाद की हानि केवल भोजन संबंधी बात नहीं है। यह सांस्कृतिक ह्रास का प्रतीक है। जब भूमि रासायनिक खेती से थक जाती है, तो उसकी उपज का स्वाद बदल जाता है। साथ ही गाँव का सामूहिक भरोसा और प्राकृतिक वातावरण भी विघटित होता है।जनजातीय समाज की परंपरागत कृषि पर्यावरण के अनुकूल रही है। वह उत्पादकता के पीछे भूमि को नष्ट नहीं करती। वह अनाज की गुणवत्ता, मिट्टी की सेहत और सामुदायिक आवश्यकता पर ध्यान देती है। एक्का की कविता इसी पर्यावरण-मित्र कृषि-दर्शन की स्मृति दिलाती है।

विश्वासी एक्का की कविता में कोरोना काल का संदर्भ भी उपस्थित है। उस दौर में नगरीय सभ्यता के लोग अपने घरों में सीमित हो गए, जबकि गाँव का किसान खुली हवा में खेती करता रहा। कवयित्री इस अंतर के माध्यम से जनजातीय और ग्रामीण जीवन की आत्मनिर्भरता को रेखांकित करती हैं—

"कोरोना काल में नाक मुँह बाँधे लोग
पहले ही दम क्या कम घुटता था
गाँव में अब भी किसान, खुली हवा में
लिख रहा है हरियाली और तृप्ति,
सरसों के फूलों में, प्रकृति में
शाश्वत प्रेम की कथा

चरौंटा साग, मधु के छत्ते/और सैकड़ों वनस्पतियों की ताकत
उसकी ध्वनियों में प्रवाहित है।
जीवन जीने का तरीका उसे प्रकृति ने सिखाया है।"[13]

यहाँ किसान केवल अन्न उत्पादक नहीं, जीवन-दर्शन का संवाहक है। उसने प्रकृति से जीवन जीने की कला सीखी है। सरसों के फूल, चरौंटा साग, मधु के छत्ते और वनस्पतियाँ उसके जीवन की सांस्कृतिक तथा पारिस्थितिक संपदा हैं।

कविता में 'पहले ही दम क्या कम घुटता था' का व्यंग्य नगरीय जीवन की बंदिश, प्रदूषण और मानसिक असंतोष पर है। इसके विपरीत गाँव का जीवन खुली हवा, हरियाली और प्रकृति के साथ जुड़ाव में अपनी शक्ति पाता है।

विश्वासी एक्का शहरी सभ्यता के दिखावे, अहंकार और कुटिलता पर भी प्रश्न उठाती हैं। उनकी कविता शहर से थके मनुष्य को जंगल में आने का आह्वान करती है, परंतु साथ ही कहती है कि वह अपना अहंकार और कुटिलता शहर में ही छोड़ आए—

"कभी ऊब जाओ शहर के कोलाहल से
तो चले आना जंगल, लेकिन छोड़ आना शहर में
अपना दिखावा, अहंकार, कुटिलता,और नाक भौं सिकोड़ने की
अपनी आँख्यात सोच।"[14]

यह कविता जंगल को मनोरंजन का स्थान नहीं, आत्म-शुद्धि का स्थान मानती है। शहरी मनुष्य जब जंगल में आता है, तो उसे प्रकृति के सामने अपने अहंकार और वर्गीय दृष्टि को त्यागना होगा। जंगल समानता, सहनशीलता और सह-अस्तित्व का स्थान है।

विश्वासी एक्का की कविता का एक प्रमुख संदेश यह है कि प्रकृति को मनुष्य की आवश्यकता नहीं, अपितुमनुष्य को प्रकृति की आवश्यकता है। आज का युग विज्ञान का युग है। मनुष्य संसार को जानने की जिज्ञासा रखता है, किंतु उसकी यह जिज्ञासा कर्तव्यबोध में नहीं बदल पा रही है। उसे यह अहंकार हो गया है कि वह प्रकृति को संरक्षित और संवर्धित कर सकता है।कवयित्री इस अहंकार को कड़े शब्दों में खारिज करती हैं—

"तुम्हारे होने से पेड़ हैं...,
तुम्हारे होने से नदियाँ हैं...,
तुम्हारे होने से हवा है...?
नहीं न।

तुम कल नहीं होगे, पेड़ तब भी होंगे, नदियाँ होंगी, हवा होगी
खत्म होगे तो बस तुम।"[15]

यह कविता मानव-केंद्रित सोच पर सबसे सीधा प्रहार है। मनुष्य यह मानता है कि पेड़, नदी और हवा उसके अस्तित्व के लिए हैं। किंतु कवयित्री कहती हैं कि प्रकृति मनुष्य के बिना भी रहेगी। विनाश होगा तो मनुष्य का ही होगा। इस प्रकार उनकी कविता मानव को अपनी सीमा और दायित्व का बोध कराती है।

विश्वासी एक्का की कविताओं में जंगल है, जंगल की पीड़ा है। पशु-पक्षियों, नदियों और पहाड़ों की व्यथा भी है। जड़ों से जुड़ाव और प्रकृति के प्रति संवेदना ही किसी कवि को बड़ा बनाती है। उनकी दृष्टि में जंगल जीवन का पर्याय है। इसलिए जंगल का जलना जीवन का जल जाना है।उनकी कविता आदिवासी समुदाय के प्रकृति-संरक्षण के प्रयास को स्पष्ट करती है—

"वे यज्ञ नहीं करते थे,जंगल को जलने से बचाना चाहते थे।
कभी-कभी उन्होंने 'झूम' खेती की,पर वह पेट की आग बुझाने के लिए थी।
अमेज़न और कैलिफोर्निया के जंगल में लगी,आग को देखकर
दुनिया समझ सकती है,कि आदिवासियों का प्रयास
निरर्थक नहीं था,जंगल का जलना
जीवन का जल जाना होता है।"[16]

यहाँ कवयित्री ने आदिवासी समुदाय पर लगाए जाने वाले आरोपों का खंडन किया है। झूम खेती को प्रकृति-विनाश के रूप में देखना एकपक्षीय है। एक्का के अनुसार वह जीविका की आवश्यकता से की गई क्रिया थी, जबकि बड़े पैमाने पर वनों में लगने वाली आग वैश्विक पारिस्थितिक विनाश का प्रतीक है।यह कविता आदिवासी ज्ञान-परंपरा के प्रति सम्मान की माँग करती है। जनजातीय समाज प्रकृति को नष्ट नहीं करता; वह उसके साथ संतुलन बनाकर जीता है। इसलिए उसके जीवन-अनुभव को विकास-नीति और पर्यावरण-प्रबंधन में अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार 'पार्ट-टाइम' पर्यटकों के आडंबर पर उनका विरोध भी महत्वपूर्ण है। जंगल, नदी और पहाड़ को केवल सैर-सपाटे की वस्तु मानना उनकी दृष्टि में प्रकृति और जनजातीय जीवन दोनों का अपमान है। प्रकृति को समझने के लिए उसके साथ रहना, उसका श्रम समझना और उसकी संस्कृति का सम्मान करना आवश्यक है।

निष्कर्ष

विश्वासी एक्का की कविता प्रकृति और जनजातीय समाज के अटूट संबंध की प्रभावी अभिव्यक्ति है। उनकी कविताओं में प्रकृति माता, सखी, संरक्षक, जीवनदायिनी और सांस्कृतिक आधार के रूप में

उपस्थित है। वन, पर्वत, नदी, मिट्टी और आकाश केवल प्राकृतिक तत्व नहीं, अपितुजनजातीय जीवन के सहयात्री हैं।

एक्का की कविता में जनजातीय जीवन की सादगी, श्रम, कर्मकौशल, लोक-संस्कृति, स्त्री-संवेदना और सामूहिक अस्मिता का सजीव चित्रण है। साथ ही उन्होंने वन-विनाश, जल-प्रदूषण, भूमि-अधिग्रहण, रासायनिक कृषि, औद्योगीकरण और पूंजीवादी दोहन पर प्रश्न उठाए हैं। उनकी कविता विकास को अस्वीकार नहीं करती, पर उसे प्रकृति-विनाश का बहाना बनने से रोकती है।

उनका मूल संदेश यह है कि प्रकृति रहेगी तो ही मनुष्य रहेगा। 'जल, जंगल और जमीन' का संरक्षण केवल जनजातीय समाज का नहीं, समस्त मानवता का दायित्व है। मनुष्य को यह समझना होगा कि प्रकृति उसकी सेवक नहीं, अपितुउसकी आधारभूत आवश्यकता है। जब तक मानव अपना अहंकार त्यागकर प्रकृति के साथ संतुलन बनाना नहीं सीखेगा, तब तक प्राकृतिक आपदाओं और सामाजिक विस्थापन से मुक्ति संभव नहीं है।

इस अर्थ में विश्वासी एक्का की कविता केवल जनजातीय जीवन का चित्रण नहीं है; वह पर्यावरण-चेतना, जनजातीय अधिकार, स्त्री-संवेदना और मानवतावादी दायित्व का संयुक्त काव्य है। 'लक्ष्मनिया का चुल्हा' और 'मौसम तो बदलना ही था' में संकलित कविताएँ मनुष्य को उसकी विलुप्त होती भावनाओं से परिचित कराकर प्रकृति और परिवेश के प्रति संवेदनशील बनाने का प्रयास करती हैं। इसीलिए विश्वासी एक्का समकालीन हिन्दी कविता में जनजातीय चेतना और पर्यावरणीय विमर्श की एक महत्वपूर्ण स्वर हैं।

संदर्भ

1. एक्का, विश्वासी, *लक्ष्मनिया का चुल्हा*, प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन, राँची, संस्करण - 2018, पृष्ठ क्रमांक -40
2. वही, पृष्ठ क्रमांक -40,
3. वही, पृष्ठ क्रमांक -24
4. एक्का, विश्वासी, *मौसम तो बदलना ही था*, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण-2021, पृष्ठ क्रमांक-55
5. वही, पृष्ठ क्रमांक-82
6. वही, पृष्ठ क्रमांक-56
7. एक्का, विश्वासी, *लक्ष्मनिया का चुल्हा*, प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन, राँची, संस्करण -2018, पृष्ठ क्रमांक -2018,
8. वही, पृष्ठ क्रमांक -26
9. वही, पृष्ठ क्रमांक-27

10. वही, पृष्ठ क्रमांक-48
11. वही, पृष्ठ क्रमांक-68
12. एक्का, विश्वासी, ***मौसम तो बदलना ही था***, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण-2021, पृष्ठ क्रमांक-66
13. वही, पृष्ठ क्रमांक-44
14. वही, पृष्ठ क्रमांक-59
15. वही, पृष्ठ क्रमांक-63
16. वही, पृष्ठ क्रमांक-75